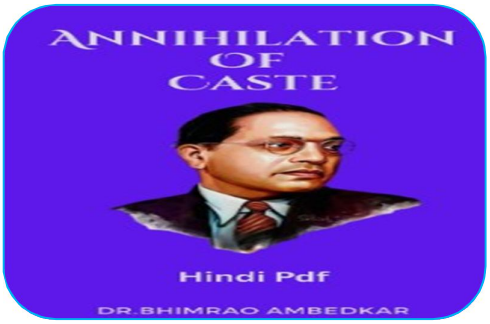
REVIEW OF RESEARCH
ISSN: 2249-894X
IMPACT FACTOR : 5.7631(UIF)
VOLUME - 15 | ISSUE - 8 | MAY - 2026

हिंदी दलित साहित्य में प्रतिरोध और मुक्ति की चेतना

Dr. A. V. Nandaniya
Associate Professor,
Shri V. M. Mehta Muni. Arts & Commerce College, Jamnagar.

प्रस्तावना



हिंदी साहित्य का विकास भारतीय समाज की विविध सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक स्थितियों के साथ गहरे रूप से जुड़ा रहा है। लंबे समय तक साहित्य की मुख्यधारा में समाज के वंचित और शोषित समुदायों की आवाज सीमित रूप में दिखाई देती रही। दलित समुदाय का जीवन, उसकी पीड़ा, सामाजिक अपमान, श्रम, संघर्ष और आकांक्षाएँ प्रायः किसी बाहरी दृष्टि से साहित्य में प्रस्तुत की जाती थीं। हिंदी दलित साहित्य के उभार ने इस स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन किया। यहाँ दलित स्वयं अपने अनुभवों का वक्ता बनकर सामने आया।

दलित साहित्य केवल सामाजिक पीड़ा का साहित्य नहीं है। उसमें **प्रतिरोध, आत्मसम्मान, अस्मिता, समानता और मुक्ति की चेतना** केंद्रीय रूप से उपस्थित है। यह साहित्य उस सामाजिक व्यवस्था को चुनौती देता है जिसने मनुष्य को जन्म के आधार पर ऊँच-नीच में विभाजित किया। इसलिए दलित साहित्य का मूल प्रश्न केवल साहित्यिक अभिव्यक्ति का प्रश्न नहीं है; वह सामाजिक न्याय और मानवीय गरिमा का प्रश्न भी है।

डॉ. भीमराव आंबेडकर ने जाति-व्यवस्था की आलोचना करते हुए समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व को लोकतांत्रिक समाज के मूल मूल्य माना [1]। उनके विचारों ने भारतीय दलित चेतना को गहरे रूप से प्रभावित किया। शिक्षा, संगठन और संघर्ष के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन की उनकी दृष्टि ने आगे चलकर दलित साहित्य को भी वैचारिक आधार प्रदान किया।

हिंदी दलित साहित्य इसी व्यापक सामाजिक चेतना का साहित्यिक रूप है। यह साहित्य प्रश्न करता है कि यदि समाज में सभी मनुष्य समान हैं तो जन्म के आधार पर किसी मनुष्य को अपमानित, बहिष्कृत और वंचित क्यों किया जाए?

दलित साहित्य: अवधारणा और स्वरूप

'दलित' शब्द का अर्थ केवल सामाजिक रूप से वंचित व्यक्ति नहीं है। आधुनिक साहित्यिक संदर्भ में यह शब्द उन समुदायों और अनुभवों की ओर संकेत करता है जिन्होंने जातिगत भेदभाव और सामाजिक बहिष्कार का अनुभव किया है।

दलित साहित्य की विशिष्टता इस बात में है कि यह शोषित समुदाय को साहित्य का केवल 'विषय' नहीं रहने देता, बल्कि उसे **लेखक, वक्ता और इतिहास का सक्रिय निर्माता** बनाता है।

शरणकुमार लिंबाले ने दलित साहित्य की अवधारणा पर विचार करते हुए इसे दलित जीवन की वास्तविक अनुभूति और सामाजिक संघर्ष से जोड़कर देखा है [2]। उनके अनुसार दलित साहित्य की संवेदना केवल कल्पना से नहीं, बल्कि जीवनानुभव और सामाजिक यथार्थ से निर्मित होती है।

इस दृष्टि से दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र भी मुख्यधारा के पारंपरिक सौंदर्यबोध को चुनौती देता है। यहाँ साहित्यिक सुंदरता का अर्थ केवल भाषा की अलंकारिकता नहीं, बल्कि **सत्य की अभिव्यक्ति और अन्याय के विरुद्ध चेतना** भी है।

जाति-व्यवस्था और साहित्य

भारतीय समाज में जाति केवल सामाजिक पहचान का माध्यम नहीं रही, बल्कि उसने श्रम, सामाजिक प्रतिष्ठा, संसाधनों और अवसरों के वितरण को भी प्रभावित किया है।

डॉ. आंबेडकर ने *Annihilation of Caste* में जाति को सामाजिक समानता के लिए गंभीर बाधा के रूप में प्रस्तुत किया [1]। उनके विचार में जाति केवल व्यक्तियों के बीच विभाजन नहीं करती; वह समाज को विभिन्न श्रेणियों में विभाजित करके सामाजिक बंधुत्व की संभावना को कमजोर करती है।

हिंदी दलित साहित्य इसी जातिगत संरचना के अनुभवों को साहित्यिक भाषा प्रदान करता है। यहाँ जाति किसी अमूर्त सामाजिक सिद्धांत के रूप में नहीं आती, बल्कि रोजमर्रा के जीवन की घटनाओं में दिखाई देती है—विद्यालय में भेदभाव, सार्वजनिक स्थानों पर अपमान, पानी के स्रोतों तक असमान पहुँच, श्रम का विभाजन, सामाजिक बहिष्कार और विवाह संबंधों में जातिगत नियंत्रण आदि।

इसलिए दलित साहित्य जाति को केवल सामाजिक व्यवस्था नहीं, बल्कि **जीवन के अनुभव** के रूप में प्रस्तुत करता है।

प्रतिरोध की चेतना

दलित साहित्य का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष उसका प्रतिरोध है। यह प्रतिरोध केवल किसी व्यक्ति के विरुद्ध नहीं बल्कि उस सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध है जो असमानता को स्वाभाविक मानती है।

प्रतिरोध का पहला चरण अक्सर प्रश्न करने से शुरू होता है।
क्यों जन्म के आधार पर मनुष्य की श्रेष्ठता निर्धारित हो?
क्यों किसी समुदाय को अपवित्र माना जाए?
क्यों श्रम करने वाला व्यक्ति सामाजिक रूप से हीन समझा जाए?
क्यों शिक्षा और ज्ञान पर किसी विशेष वर्ग का अधिकार माना जाए?
दलित साहित्य इन प्रश्नों को साहित्यिक विमर्श के केंद्र में लाता है।

यह प्रतिरोध कभी आक्रोश का रूप लेता है, कभी आत्मकथात्मक अनुभव का, कभी कविता की तीखी भाषा का और कभी कहानी तथा उपन्यास के सामाजिक यथार्थ का।

डॉ. आंबेडकर और दलित साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि

हिंदी दलित साहित्य की चेतना को समझने के लिए डॉ. भीमराव आंबेडकर के विचारों को समझना अत्यंत आवश्यक है। आंबेडकर ने जातिगत असमानता के विरुद्ध संघर्ष को सामाजिक लोकतंत्र के निर्माण से जोड़ा।

उनका प्रसिद्ध आह्वान—**शिक्षित बनो, संगठित हो और संघर्ष करो**—दलित मुक्ति की चेतना के लिए महत्वपूर्ण वैचारिक आधार बना [1]।

आंबेडकर के लिए शिक्षा केवल रोजगार का साधन नहीं थी; वह चेतना और आत्मसम्मान प्राप्त करने का माध्यम थी। संगठन सामाजिक शक्ति के निर्माण का माध्यम था और संघर्ष अन्यायपूर्ण संरचनाओं को बदलने की प्रक्रिया।

हिंदी दलित आत्मकथाओं और कविताओं में शिक्षा की आकांक्षा, सामाजिक सम्मान और आत्मनिर्णय की इच्छा बार-बार दिखाई देती है। इस दृष्टि से आंबेडकरवादी चेतना और दलित साहित्य के बीच गहरा वैचारिक संबंध दिखाई देता है।

आत्मसम्मान और अस्मिता

दलित साहित्य में प्रतिरोध का एक महत्वपूर्ण आयाम **आत्मसम्मान** है।

जातिगत व्यवस्था ने सदियों तक कुछ समुदायों को सामाजिक रूप से हीन घोषित किया। दलित साहित्य इस थोपी हुई हीनता को अस्वीकार करता है।

यह कहता है कि श्रम अपमान नहीं है।

गरीबी मनुष्य को हीन नहीं बनाती।

जन्म किसी व्यक्ति की नैतिक या बौद्धिक क्षमता निर्धारित नहीं करता।

मनुष्य की गरिमा उसके जन्म से नहीं बल्कि उसके मानवीय अस्तित्व से निर्धारित होती है।

इस प्रकार दलित साहित्य आत्मसम्मान को मुक्ति की पहली शर्त के रूप में स्थापित करता है।

हिंदी दलित आत्मकथा का महत्व

हिंदी दलित साहित्य में आत्मकथा ने अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आत्मकथा में दलित लेखक स्वयं अपने जीवन का इतिहास लिखता है। इससे साहित्य में प्रतिनिधित्व की संरचना बदलती है।

अब दलित जीवन को कोई बाहरी लेखक नहीं, बल्कि स्वयं दलित लेखक अपनी से प्रस्तुत करता है।

आत्मकथा इसलिए केवल व्यक्तिगत जीवन का दस्तावेज नहीं है। वह सामाजिक संरचना की आलोचना भी है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की **'जूठन'** हिंदी दलित आत्मकथा की सबसे चर्चित कृतियों में से एक है। इसमें लेखक ने जातिगत भेदभाव, गरीबी, श्रम और सामाजिक अपमान के अनुभवों को अपनी जीवन-यात्रा के माध्यम से प्रस्तुत किया है [3]।

'जूठन' में भोजन का प्रश्न भी सामाजिक असमानता और जातिगत अपमान का प्रतीक बन जाता है। शीर्षक स्वयं उस सामाजिक व्यवस्था की ओर संकेत करता है जिसमें कुछ मनुष्यों को दूसरों के बचे हुए भोजन तक सीमित कर दिया गया था।

इस प्रकार व्यक्तिगत स्मृति सामाजिक इतिहास में बदल जाती है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि और प्रतिरोध

ओमप्रकाश वाल्मीकि हिंदी दलित साहित्य के महत्वपूर्ण लेखक हैं। उनकी आत्मकथा 'जूठन' ने दलित जीवन के अनेक ऐसे अनुभवों को सामने रखा जिन्हें मुख्यधारा का साहित्य अक्सर अनदेखा करता रहा।

वाल्मीकि के लेखन में शिक्षा और साहित्य दोनों प्रतिरोध के माध्यम बनते हैं। विद्यालय का अनुभव, सामाजिक अपमान और जातिगत श्रम की स्मृतियाँ उनके साहित्य में केवल व्यक्तिगत पीड़ा नहीं हैं; वे व्यापक सामाजिक व्यवस्था की आलोचना बन जाती हैं।

'जूठन' का महत्व इस बात में भी है कि यह दलित जीवन को करुणा के पात्र के रूप में नहीं बल्कि संघर्षशील मनुष्य के रूप में प्रस्तुत करती है।

कौसल्या बैसंत्री और दलित स्त्री चेतना

दलित साहित्य के भीतर भी स्त्री के अनुभव की विशिष्टता को समझना आवश्यक है। कौसल्या बैसंत्री की **'दोहरा अभिशाप'** हिंदी दलित स्त्री आत्मकथा की महत्वपूर्ण कृति है [4]।

यहाँ दलित स्त्री को जाति और पितृसत्ता दोनों का सामना करना पड़ता है। इसलिए उसका अनुभव केवल दलित अनुभव या केवल स्त्री अनुभव नहीं है; दोनों एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं।

'दोहरा अभिशाप' में आत्मकथात्मक लेखन प्रतिरोध का माध्यम बनता है। अपनी पीड़ा को सार्वजनिक रूप से व्यक्त करना स्वयं एक सामाजिक प्रतिरोध है क्योंकि यह उन अनुभवों को दृश्य बनाता है जिन्हें समाज छिपाना चाहता है।

इस प्रकार दलित स्त्री लेखन हिंदी दलित साहित्य की मुक्ति चेतना को और अधिक व्यापक बनाता है।

सुशीला टाकभौरे और स्त्री की मुक्ति

सुशीला टाकभौरे की **'शिकंजे का दर्द'** भी दलित स्त्री जीवन के संघर्षों को सामने लाने वाली महत्वपूर्ण आत्मकथा है [5]।

यहाँ 'शिकंजा' केवल जातिगत व्यवस्था का प्रतीक नहीं है। उसमें पितृसत्ता, गरीबी और सामाजिक रूढ़ियों की अनेक परतें भी शामिल हैं।

टाकभौरे का लेखन यह स्पष्ट करता है कि दलित मुक्ति के भीतर स्त्री-मुक्ति का प्रश्न भी शामिल होना चाहिए। यदि जातिगत व्यवस्था कमजोर हो लेकिन परिवार और समाज में स्त्री को बराबरी न मिले, तो मुक्ति अधूरी रह जाएगी।

दलित कविता और आक्रोश

हिंदी दलित कविता ने प्रतिरोध की चेतना को तीव्र और सीधी भाषा प्रदान की है। दलित कविता में आक्रोश, आत्मसम्मान और सामाजिक न्याय की आकांक्षा प्रमुख रूप से दिखाई देती है।

दलित कविता का आक्रोश केवल नकारात्मक भाव नहीं है। वह सामाजिक परिवर्तन की इच्छा से उत्पन्न होता है।

यह कविता पूछती है कि समाज ने किसे मनुष्य माना और किसे मनुष्य होने से वंचित किया।

दलित कवि जब अपनी जातिगत स्मृतियों और अनुभवों को कविता में व्यक्त करता है तो निजी अनुभव सामूहिक प्रतिरोध का स्वर बन जाता है।

दलित कहानी और सामाजिक यथार्थ

दलित कहानी ने भी सामाजिक जीवन के उन क्षेत्रों को साहित्य का हिस्सा बनाया जिन्हें लंबे समय तक हाशिए पर रखा गया।

दलित कहानियों में गाँव की जातिगत संरचना, श्रम, गरीबी, सामाजिक अपमान, शिक्षा, रोजगार और सत्ता-संबंधों के अनेक रूप दिखाई देते हैं।

मोहनदास नैमिशराय, **जयप्रकाश कर्दम**, **सूरजपाल चौहान** और अन्य दलित रचनाकारों के साहित्य में सामाजिक यथार्थ और प्रतिरोध का स्वर महत्वपूर्ण है।

इन रचनाओं में दलित पात्र केवल पीड़ित नहीं हैं। वे प्रश्न करते हैं, संघर्ष करते हैं और अपनी सामाजिक पहचान को पुनः परिभाषित करने का प्रयास करते हैं।

दलित साहित्य और श्रम

दलित साहित्य में श्रम का प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण है। भारतीय जाति-व्यवस्था में अनेक श्रमों को जातिगत आधार पर निम्न माना गया। परिणामस्वरूप श्रम करने वाले समुदायों को सामाजिक सम्मान से वंचित किया गया।

दलित साहित्य इस धारणा को चुनौती देता है।

यह श्रम को अपमान नहीं बल्कि जीवन की सृजनात्मक शक्ति के रूप में प्रस्तुत करता है।

इस दृष्टि से दलित साहित्य श्रम की गरिमा को पुनर्स्थापित करता है। वह पूछता है कि जिस श्रम के बिना समाज का अस्तित्व संभव नहीं, उसी श्रम को करने वाले व्यक्ति को सामाजिक रूप से हीन क्यों माना जाए?

शिक्षा और मुक्ति

दलित साहित्य में शिक्षा मुक्ति का एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रतीक है।

विद्यालय दलित पात्रों के लिए केवल ज्ञान प्राप्त करने की जगह नहीं है; वह सामाजिक संघर्ष का क्षेत्र भी बन जाता है। विद्यालय में होने वाला भेदभाव यह दिखाता है कि शिक्षा की संस्था भी सामाजिक असमानता से मुक्त नहीं थी।

फिर भी शिक्षा दलित साहित्य में आशा का माध्यम बनी रहती है।

आंबेडकरवादी चिंतन में शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन का महत्वपूर्ण साधन माना गया [1]। दलित आत्मकथाओं में शिक्षा प्राप्त करने का संघर्ष इसी चेतना का साहित्यिक रूप है।

इसलिए शिक्षा दलित साहित्य में **अंधकार से प्रकाश की ओर जाने वाले मार्ग**का प्रतीक बन जाती है।

भाषा का प्रतिरोध

दलित साहित्य ने साहित्यिक भाषा की पारंपरिक अवधारणा को भी चुनौती दी। इसमें लोकभाषा, बोलचाल, जातिगत अनुभवों और रोजमर्रा के जीवन की शब्दावली का प्रयोग मिलता है।

यह भाषा कई बार तीखी, आक्रामक और असुविधाजनक लग सकती है। लेकिन यही उसकी शक्ति है।

दलित लेखक उस अनुभव को उसी भाषा में व्यक्त करना चाहता है जिसमें उसने उसे जिया है। इसलिए उसकी भाषा पर कृत्रिम साहित्यिक सौंदर्य का आरोपण उसके अनुभव की तीव्रता को कम कर सकता है।

शरणकुमार लिंबाले ने दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र पर विचार करते हुए अनुभव और यथार्थ की प्रामाणिकता को विशेष महत्व दिया [2]।

दलित साहित्य और मुख्यधारा का सौंदर्यशास्त्र

परंपरागत साहित्यिक सौंदर्यशास्त्र में सुंदरता, करुणा, कल्पना और कलात्मकता को प्रमुखता दी जाती रही है। दलित साहित्य ने इस सौंदर्यबोध के सामने एक महत्वपूर्ण प्रश्न रखा—क्या सामाजिक अन्याय का यथार्थ साहित्यिक सौंदर्य का विषय नहीं हो सकता?

दलित साहित्य का उत्तर है कि पीड़ा और संघर्ष को अभिव्यक्त करना भी साहित्यिक सृजन है।

इस साहित्य में 'सुंदर' की अवधारणा बदलती है। सत्य, न्याय, आत्मसम्मान और प्रतिरोध भी सौंदर्य के नए मानदंड बन सकते हैं।

यही कारण है कि दलित साहित्य ने हिंदी आलोचना के सामने **दलित सौंदर्यशास्त्र** के निर्माण का प्रश्न रखा।

साहित्य में प्रतिनिधित्व का प्रश्न

दलित साहित्य का एक महत्वपूर्ण योगदान प्रतिनिधित्व के प्रश्न को सामने लाना है।
कौन बोलता है?
किसके अनुभव को साहित्य में स्थान मिलता है?
किसकी भाषा साहित्यिक मानी जाती है?
कौन इतिहास लिखता है?
ये प्रश्न दलित साहित्य के केंद्र में हैं।

दलित साहित्य ने साहित्यिक प्रतिनिधित्व की उस व्यवस्था को चुनौती दी जिसमें हाशिए के समुदायों के बारे में लिखने का अधिकार मुख्यतः बाहरी लेखकों के पास था।

इस साहित्य में 'मैं' का उदय इसलिए महत्वपूर्ण है। यह 'मैं' व्यक्तिगत होने के साथ-साथ सामूहिक इतिहास की आवाज भी बन जाता है।

दलित साहित्य और इतिहास की पुनर्रचना

मुख्यधारा के इतिहास में दलित समुदायों के अनुभवों को अक्सर सीमित स्थान मिला है। दलित साहित्य इस अनुपस्थिति को चुनौती देता है।

आत्मकथा, संस्मरण, कविता और कहानी के माध्यम से दलित लेखक अपनी सामाजिक स्मृतियों को दर्ज करते हैं।

इस प्रकार साहित्य एक वैकल्पिक इतिहास का निर्माण करता है।

'जूठन' जैसी आत्मकथा केवल ओमप्रकाश वाल्मीकि के जीवन की कहानी नहीं है; वह उन असंख्य लोगों के अनुभवों की प्रतिनिधि स्मृति बन जाती है जिन्होंने जातिगत अपमान का सामना किया है [3]।

इसी प्रकार 'दोहरा अभिशाप' व्यक्तिगत जीवन से आगे जाकर दलित स्त्री के सामाजिक इतिहास का दस्तावेज बनती है [4]।

आंबेडकर और मुक्ति की अवधारणा

दलित साहित्य में मुक्ति का अर्थ केवल आर्थिक उन्नति नहीं है। मुक्ति का अर्थ है— जातिगत अपमान से मुक्ति, सामाजिक बराबरी, शिक्षा का अधिकार, आत्मसम्मान, राजनीतिक भागीदारी और मानवीय गरिमा।

आंबेडकर का सामाजिक लोकतंत्र का विचार इसी व्यापक मुक्ति से जुड़ा है [1]।
उनके लिए स्वतंत्रता तभी सार्थक है जब वह समानता और बंधुत्व के साथ जुड़ी हो।

दलित साहित्य इसी त्रयी को साहित्यिक अनुभवों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। इसलिए इसका प्रतिरोध केवल व्यवस्था-विरोध नहीं बल्कि एक न्यायपूर्ण समाज की कल्पना भी है।

दलित साहित्य और गांधीवादी दृष्टि

दलित साहित्य और गांधीवादी दृष्टि के बीच संबंध जटिल रहा है। महात्मा गांधी ने अस्पृश्यता के विरोध और सामाजिक सुधार पर बल दिया, लेकिन आंबेडकर ने जाति-व्यवस्था की संरचनात्मक आलोचना करते हुए अधिक मूलभूत परिवर्तन की आवश्यकता पर बल दिया।

इस वैचारिक अंतर को समझना दलित साहित्य की राजनीति को समझने के लिए महत्वपूर्ण है।

दलित साहित्य सुधार से आगे जाकर **सामाजिक संरचना के परिवर्तन** की मांग करता है। उसके लिए केवल अस्पृश्यता के विरुद्ध नैतिक अपील पर्याप्त नहीं; जातिगत पदानुक्रम को चुनौती देना आवश्यक है।

दलित साहित्य और सामाजिक न्याय

दलित साहित्य का अंतिम लक्ष्य प्रतिरोध के साथ सामाजिक न्याय की स्थापना है।

सामाजिक न्याय का अर्थ केवल कानून में समानता नहीं है। इसका अर्थ सामाजिक जीवन में सम्मान, अवसर, संसाधनों और अधिकारों तक समान पहुँच भी है।

भारतीय संविधान ने समानता और भेदभाव-निषेध के सिद्धांतों को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। लेकिन साहित्य यह दिखाता है कि कानूनी समानता और सामाजिक अनुभव के बीच अभी भी अंतर हो सकता है।
दलित साहित्य इसी अंतर को उजागर करता है।

दलित स्त्री और अंतर्विभाजक मुक्ति

दलित साहित्य के भीतर दलित स्त्री का प्रश्न विशेष महत्व रखता है। दलित स्त्री जाति और पितृसत्ता के संयुक्त प्रभाव का सामना करती है।

किम्बर्ले क्रेंशॉ की अंतर्विभाजकता की अवधारणा के माध्यम से इस अनुभव को समझा जा सकता है [6]। किसी व्यक्ति की सामाजिक स्थिति केवल एक पहचान से निर्धारित नहीं होती; विभिन्न सत्ता-संरचनाएँ एक-दूसरे से जुड़कर उसके अनुभव को प्रभावित कर सकती हैं।

हिंदी दलित स्त्री लेखन इसी जटिलता को सामने लाता है। कौसल्या बैसंत्री और सुशीला टाकभौरे का लेखन यह स्पष्ट करता है कि दलित मुक्ति के विमर्श में स्त्री की स्वतंत्रता को समान महत्व देना आवश्यक है।

समकालीन समय में दलित साहित्य

इक्कीसवीं सदी में दलित साहित्य का विस्तार नए माध्यमों तक हुआ है। पत्रिकाओं, ब्लॉग, डिजिटल मंचों और सोशल मीडिया ने दलित लेखकों को नए पाठक उपलब्ध कराए हैं।

इससे साहित्यिक संवाद का लोकतंत्रीकरण हुआ है। अब हाशिए की आवाजें पारंपरिक प्रकाशन-संरचनाओं से बाहर भी पाठकों तक पहुँच सकती हैं।

लेकिन नई चुनौतियाँ भी सामने आई हैं। डिजिटल मंचों पर जातिगत घृणा, ट्रोलिंग और सामाजिक ध्रुवीकरण दिखाई देता है। इसलिए डिजिटल युग में दलित साहित्य की प्रतिरोध चेतना नए माध्यमों और नई भाषाओं का रूप ग्रहण कर रही है।

दलित साहित्य और नई पीढ़ी

नई पीढ़ी के दलित लेखक जाति के प्रश्न को शिक्षा, रोजगार, शहरीकरण, पहचान, डिजिटल संस्कृति और वैश्वीकरण के संदर्भ में देख रहे हैं।

शहरी जीवन ने जातिगत संबंधों के कुछ रूप बदले हैं, लेकिन जाति पूरी तरह समाप्त नहीं हुई। कई बार वह आधुनिक संस्थाओं और पेशेवर संबंधों के भीतर नए रूपों में दिखाई देती है।

समकालीन दलित साहित्य इस बदलती हुई वास्तविकता को दर्ज कर रहा है।

इस साहित्य में प्रतिरोध अब केवल गाँव की जातिगत संरचना तक सीमित नहीं है। विश्वविद्यालय, कार्यालय, मीडिया, राजनीति और डिजिटल मंच भी प्रतिरोध के नए क्षेत्र बन गए हैं।

दलित साहित्य: पीड़ा से आगे

दलित साहित्य को केवल 'पीड़ा का साहित्य' कहना उसकी व्यापकता को सीमित करता है।

इसमें पीड़ा है, लेकिन केवल पीड़ा नहीं।

इसमें आक्रोश है, लेकिन केवल आक्रोश नहीं।

इसमें प्रतिरोध है, लेकिन प्रतिरोध के साथ निर्माण की आकांक्षा भी है।

इसमें आत्मकथा है, लेकिन आत्मकथा के भीतर सामूहिक इतिहास भी है।
इसमें अस्मिता है, लेकिन अस्मिता के साथ समानता और न्याय की व्यापक आकांक्षा भी है।
इसलिए दलित साहित्य का मूल स्वर **मुक्ति की ओर अग्रसर चेतना** का स्वर है।

साहित्य और सामाजिक परिवर्तन

साहित्य सीधे कानून नहीं बनाता और न ही वह अकेले सामाजिक संरचना बदल सकता है। लेकिन साहित्य मनुष्य की चेतना को बदल सकता है।

दलित साहित्य ने पाठकों को उन अनुभवों से परिचित कराया जिन्हें समाज अक्सर अदृश्य बना देता था। उसने जातिगत अपमान को निजी घटना से सामाजिक प्रश्न में बदला। यही साहित्य की परिवर्तनकारी शक्ति है।

जब पाठक किसी दलित लेखक की आत्मकथा पढ़ता है, तो वह केवल एक व्यक्ति की कहानी नहीं पढ़ता; वह उस सामाजिक व्यवस्था का सामना करता है जिसने उस अनुभव को संभव बनाया।
इस प्रकार साहित्य सामाजिक संवेदना के विस्तार का माध्यम बनता है।

प्रतिरोध से मुक्ति तक

दलित साहित्य में प्रतिरोध और मुक्ति एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं।
प्रतिरोध अन्याय को पहचानता है।
अस्मिता उसे अस्वीकार करती है।
आत्मसम्मान व्यक्ति को अपनी गरिमा का बोध कराता है।
शिक्षा चेतना का विस्तार करती है।
संगठन सामाजिक शक्ति का निर्माण करता है।
और मुक्ति इन सभी प्रक्रियाओं को व्यापक सामाजिक परिवर्तन की दिशा देती है।

इसलिए दलित साहित्य का प्रतिरोध केवल नकार नहीं है। वह एक वैकल्पिक समाज की कल्पना भी है—ऐसा समाज जहाँ मनुष्य की पहचान जन्म से नहीं बल्कि उसकी मानवीय गरिमा से निर्धारित हो।

निष्कर्ष

हिंदी दलित साहित्य भारतीय साहित्य के लोकतांत्रिक विस्तार की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इस साहित्य ने न केवल नए विषयों को साहित्य में स्थान दिया, बल्कि साहित्यिक दृष्टि, भाषा, सौंदर्यशास्त्र और प्रतिनिधित्व की पारंपरिक अवधारणाओं को भी चुनौती दी।

डॉ. आंबेडकर के विचारों ने दलित चेतना को समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व की वैचारिक दिशा प्रदान की [1]। शरणकुमार लिंबाले ने दलित साहित्य के अनुभव-आधारित सौंदर्यशास्त्र पर विचार करते हुए साहित्य और जीवन के गहरे संबंध को रेखांकित किया [2]। ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' ने जातिगत अपमान और सामाजिक संघर्ष को आत्मकथात्मक स्वर दिया [3], जबकि कौसल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप' और सुशीला टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द' ने दलित स्त्री के अनुभव को दलित साहित्य के केंद्र में लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई [4,5]।

हिंदी दलित साहित्य की सबसे बड़ी शक्ति यह है कि वह पीड़ित मनुष्य को केवल करुणा का पात्र नहीं बनाता। वह उसे **प्रश्न करने वाला, संघर्ष करने वाला और अपनी पहचान स्वयं निर्मित करने वाला मनुष्य** बनाता है।

इस साहित्य में प्रतिरोध इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि वह अन्यायपूर्ण व्यवस्था को चुनौती देता है; मुक्ति इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि वह केवल वर्तमान व्यवस्था का विरोध नहीं करता, बल्कि एक समानतामूलक भविष्य की कल्पना करता है।

दलित साहित्य हमें यह समझने के लिए बाध्य करता है कि साहित्य की वास्तविक लोकतांत्रिक शक्ति तभी विकसित हो सकती है जब समाज के सभी वर्गों और समुदायों की आवाजें उसमें समान सम्मान के साथ उपस्थित हों।

अतः हिंदी दलित साहित्य को केवल 'एक साहित्यिक धारा' के रूप में देखना पर्याप्त नहीं है। यह भारतीय समाज में **मानवीय गरिमा, सामाजिक न्याय, आत्मसम्मान और मुक्ति की निरंतर विकसित होती चेतना का साहित्यिक आंदोलन** है। इसकी प्रतिरोधी आवाज आज भी प्रासंगिक है क्योंकि जातिगत असमानता के विरुद्ध संघर्ष केवल दलित समाज का प्रश्न नहीं, बल्कि लोकतंत्र और मनुष्यता की गुणवत्ता का प्रश्न है।

संदर्भ

1. Ambedkar BR. Annihilation of caste. New Delhi: Navayana; 2014.
2. Limbale S. Towards an aesthetic of Dalit literature: history, controversies and considerations. Mukherjee S, translator. New Delhi: Orient BlackSwan; 2004.
3. वाल्मीकि ओमप्रकाश. जूठन: एक दलित की जीवन-कथा. नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन; 1997.
4. बैसंत्री कौसल्या. दोहरा अभिशाप. नई दिल्ली: किताबघर प्रकाशन; 1999.
5. टाकभौरे सुशीला. शिकंजे का दर्द. नई दिल्ली: सम्यक प्रकाशन; 2011.
6. Crenshaw K. Demarginalizing the intersection of race and sex: a Black feminist critique of antidiscrimination doctrine, feminist theory and antiracist politics. University of Chicago Legal Forum. 1989;1989(1):139-167.

7. Zelliot E. From untouchable to Dalit: essays on the Ambedkar movement. New Delhi: Manohar; 1992.
8. Omvedt G. Dalits and the democratic revolution: Dr Ambedkar and the Dalit movement in colonial India. New Delhi: Sage Publications; 1994.
9. Ilaiah K. Why I am not a Hindu: a Sudra critique of Hindutva philosophy, culture and political economy. Calcutta: Samya; 1996.
10. Rege S. Writing caste/writing gender: narratives of Dalit women's testimonios. New Delhi: Zubaan; 2006.
11. Limbale S. Dalit literature: form and purpose. In: Limbale S. Towards an aesthetic of Dalit literature. New Delhi: Orient BlackSwan; 2004.
12. Valmiki O. Dalit sahitya ka saundaryashastra. New Delhi: Radhakrishna Prakashan; 2001.



Dr. A. V. Nandaniya
Associate Professor,
Shri V. M. Mehta Muni. Arts & Commerce College, Jamnagar.